व्यक्तित्व के समग्र विकास की दिशा में–

जैन शिक्षा प्रणाली की उपयोगिता

–श्रीचन्द सुराना 'सरस'

ससांर का घटक है व्यक्ति, और व्यक्ति की पहचान होती है उसके व्यक्तित्व से। जैस अग्नि की पहचान, उष्मा और प्रकाश से, जल की पहचान उसकी शीतलता और तरलता से होती है, उसी प्रकार व्यक्ति की पहचान उसके व्यक्तित्व–अर्थात् शारीरिक एवं मानसिक गुणों से होती है।

स्वेट मार्टेन ने व्यक्तित्व के कुछ आवश्यक घटक बताये हैं– स्वस्थ शरीर, बौद्धिक शक्ति, मानसिक दृढ़ता, हृदय की उदारता, भावात्मक उच्चता (करुणा-मैत्री-सेवा आदि) तथा व्यावहारिक दक्षता, समयोचित व्यवहार आदि।

लार्ड चेस्टरन ने वेशभूषा (ड्रेस–Dress) और बोलचाल की शिष्टता-सभ्यता (एड्रेस–Adress) को व्यक्तित्व का महत्वपूर्ण अंग माना है।

भर्तृहरि ने नीतिशतक में महान व्यक्तित्व के घटक गुणों की चर्चा करते हुए लिखा है–

विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा,
सदसि वाक्पटुता युधि विक्रमः
यशसि चाभिरुचि र्व्यसनं श्रुतौ,
प्रकृतिसिद्धमिदं हि महात्मनाम्॥ –नीतिशतक–६३

विपत्ति में धैर्य, ऐश्वर्य में सहिष्णुता, विकास के समय में स्वयं पर नियंत्रण, सभा में वचन की चतुराई, कभी हताश नहीं होना, सुयश के कार्य में रुचि, पढ़ने में निष्ठा आदि गुणों से व्यक्तित्व निखरता है, चमकता है।

जैन आचार्यों ने व्यक्तित्व को प्रभावशाली, लोकप्रिय और सदाचार सम्पन्न बनाने के लिए २१ सद्‌गुणों पर विशेष बल दिया है। जैसे–

हृदय की उदारता, प्रकृति की सौम्यता, करुणाशीलता, विनयशीलता, न्यायप्रियता, कृतज्ञता, धर्मबुद्धि, चतुरता। आदि।[1]

शिक्षा का महत्त्व

विभिन्न विचारकों ने देश-काल की परिस्थितियों तथा आवश्यकता के अनुसार व्यक्तित्व के घटक तत्त्वों पर अनेक दृष्टियों से चिन्तन किया है, उसमें एक सार्वभौम तत्त्व है–शिक्षा, ज्ञान, प्रतिभा।

उष्णता या तेजस्विता के बिना अग्नि का कोई मूल्य नहीं है, उसी प्रकार ज्ञान, शिक्षा या प्रतिभा के बिना व्यक्ति का कोई महत्त्व नहीं है। विकास के सभी द्वार-शिक्षा से खुलते हैं। उन्नति के सभी मार्ग ज्ञान के राजमार्ग से ही निकलते हैं, अतः संसार के समस्त विचारकों ने शिक्षा और ज्ञान को सर्वोपरि माना है। एक शायर का कहना है–

सआदत है, सयादत है, इबादत है इल्म।
हकूमत है, दौलत है, ताकत है इल्म।

एक आत्मज्ञ ऋषि का कथन है–

आयाभावं जाणंति सा विज्जा दुक्खमोयणी

–इसिभासियाइं–१७/२

जिससे अपने स्वरूप का ज्ञान हो, वहीं विद्या दुःखों का नाश करने वाली है।

शिक्षा का अर्थ–सर्वांग विकास

शिक्षा का अर्थ–केवल पुस्तकीय ज्ञान नहीं है। अक्षर ज्ञान शिक्षा का मात्र एक अंग है। जैन मनीषियों ने शिक्षा को बहुत व्यापक और विशाल अर्थ में लिया है। उन्होंने ज्ञान और आचार, बुद्धि और चरित्र दोनों के समग्र विकास को शिक्षा का फलित माना है।

आधुनिक शिक्षा-शास्त्रियों–फ्रोबेल, डीवी, मोन्टेसरी आदि ने शिक्षण की अनेक विधियों-प्रणालियों (Teaching Method) का प्रतिपादन किया है, किन्तु मुख्य शिक्षा प्रणालियां दो ही हैं–१. अगमन (Inductive) और २. निगमन (Deductive)।

अगमन शिक्षा प्रणाली में शिक्षक अपने शिष्यों को कोई सिद्धान्त या विषय समझाता है और शिष्य उसे समझ लेते हैं, कंठस्थ कर लेते हैं। शिक्षक के पूछने पर (अथवा प्रश्नपत्र के प्रश्नों के उत्तर में) जो कुछ समझा है, याद किया है, वही बोल या लिख देते हैं। आजकल निबंधात्मक प्रश्नोत्तर इसी शिक्षण प्रणाली के अन्तर्गत हैं।

निगमन प्रणाली में पहले परिणाम (फल) बताकर फिर सिद्धान्त निश्चित किया जाता है। इस प्रणाली में छात्रों से उत्तर निकलवाया जाता है। इससे छात्रों की बुद्धि एवं योग्यता (Intelligence) ज्ञात हो जाती है तथा कौन छात्र किना मंदबुद्धि या तीव्रबुद्धि वाला है, यह भी पता चल जाता है। लघु-उत्तरीय प्रश्न इसी प्रणाली के अन्तर्गत हैं।

इन दोनों ही प्रणालियों से मानव का ज्ञान और बुद्धि तथा व्यक्तित्व विकसित होता है।

जैन-शिक्षा-प्रणाली

प्राचीन जैन शिक्षा प्रणाली में इन दोनों विधियों का समन्वय तो है ही, लेकिन साथ ही कुछ ऐसे भी तत्त्व हैं, जिनसे व्यक्तित्त्व का समग्र विकास होता है।

उपरोक्त दोनों शिक्षण प्रणालियाँ सिर्फ ज्ञान और बुद्धि के विकास तक ही सीमित हैं, किन्तु जैन शिक्षा प्रणाली शैक्ष या शिष्य की पात्रता, विनय उसकी आदतों, चरित्र, अन्तर्हृदय की भावनाओं आदि व्यक्तित्त्व के सभी घटकों पर ध्यान देकर शैक्ष के बहिरंग और अन्तरंग जीवन तथा उसके व्यक्तित्व का समग्र विकास करती है। सभी दृष्टियों से उसके व्यक्तित्त्व को तेजस्वी, प्रभावशाली और आकर्षक (Dynamic Personalty) बनाती है।

जैन आचार्यों ने बताया है–

सिक्खा दुविहा–
गहण सिक्खा–सुत्तत्थ तदुभयाणं
आसेवणा सिक्खा–पडिलेहणा ..... ठ्टावणा व्रतादि सेवना।

–पंच कल्पभाष्य–३

शिक्षा दो प्रकार की है–

१. ग्रहण शिक्षा-शास्त्रों का ज्ञान, शास्त्र का शुद्ध उच्चारण, पठन, अर्थ और देश-काल के संदर्भ में शब्दों के मर्म का ज्ञान प्राप्त करना–ग्रहण शिक्षा है।

२. आसेवना शिक्षा–व्रतों का आचरण, नियमों का सम्यग् परिपालन और सभी प्रकार के दोषों का परिवर्जन करते हुए, अपने चरित्र को निर्मल रखना आसेवना शिक्षा है।

सम्पूर्ण जैन साहित्य में शिक्षा को इसी व्यापक परिप्रेक्ष्य में लिया गया है, और इसी आधार पर उस पर चिन्तन हुआ है। शिक्षा की यह दोनों विधियाँ मिलकर ही सम्पूर्ण और सर्वांग शिक्षा बनती है।

शिक्षा प्राप्ति की अवस्था

यूँ तो ज्ञान–प्राप्ति के लिए अवस्था या आयु का कोई नियम नहीं है, कुछ विशिष्ट आत्माएँ जिनका विशेष क्षयोपशम होता है, जन्म से ही अवधिज्ञान युक्त होती है। किन्हीं-किन्हीं को जन्म से ही पूर्वजन्म का–जातिस्मृति ज्ञान भी होता है, परन्तु सर्वसामान्य में यह विशिष्टता नहीं पाई जाती है।

आजकल ढाई-तीन वर्ष के बच्चे को ही कच्ची उम्र में नर्सरी में भेज दिया जाता है, यद्यपि अमेरिका जैसे विकसित देशों में ५-६ वर्ष के पहले बच्चे के कच्चे दिमाग पर शिक्षा का भार नहीं डालने की मान्यता है। बाल मनोविज्ञान की नवीनतम व्याख्याओं के अनुसार पाँच से आठ वर्ष की आयु बालक के अध्ययन एवं शिक्षाग्रहण करने की सर्वथ अनुकूल होती है।

प्राचीन वैदिक एवं जैन साहित्य के अनुशीलन से पता चलता है कि पाँच वर्ष के पश्चात् ही बालक को अक्षर ज्ञान देने की प्रथा थी। रघुवंश[2] के अनुसार राम का मुण्डन संस्कार हो जाने के अनन्तर उन्हें अक्षरज्ञान कराया गया। यह लगभग पाँचवें वर्ष में ही किया जाता था। कौटिलीय अर्थशास्त्र[3] के अनुसार भी इसी बात की पुष्टि होती है। मुण्डन संस्कार के अनन्तर वर्णमाला और फिर अंकमाला का अभ्यास कराया जाता था।

आचार्य जिनसेन तथा हेमचन्द्राचार्य के अनुसार[4] भगवान ऋषभदेव ने सर्वप्रथम अपनी ज्येष्ठ पुत्री ब्राह्मी को दाहिने हाथ से अक्षर माला- वर्णमाला का तथा बायें हाथ से सुन्दरी को अंकमाला-गणित का ज्ञान दिया। सामान्यतः पाँचवें वर्ष से प्रारम्भ करके वर्णमाला, अंकमाला तथा तत्पश्चात गणित का ज्ञान कराने में तीन वर्ष का समय लग जाता है। इस प्रकार आठ वर्ष का बालक शिक्षा के योग्य हो जाता है। भगवती सूत्र, ज्ञाता तथा अन्तकृद्दशासूत्र आदि के प्रसंगों से यह स्पष्ट होता है कि आठ वर्ष की आयु पूर्ण करने पर माता-पिता बालक को कलाचार्य के पास ले जाते थे और उन्हें सभी प्रकार की कलाएँ, विद्याएँ गुरुकुल में रखकर ही सिखाई जाती थीं। महाबल कुमार, मेघकुमार, अनीयस कुमार आदि के प्रसंग उक्त सन्दर्भ में पठनीय हैं।[5] बालक वर्धमान को भी आठ वर्ष पूर्ण करने पर कलाचार्य के पास विद्याध्ययन हेतु ले जाने का उल्लेख है।[6] निशीथचूर्णि के अनुसार आठवें वर्ष में बालक शिक्षा के योग्य हो जाता है। तत्पश्चात् नवम-दशम वर्ष में वह दीक्षा-प्रव्रज्या के योग्य भी बन जाता है।[7] जैन इतिहास के अनुसार आर्य शय्यंभव के पुत्र-शिष्य मनक ने आठ वर्ष की अवस्था में दीक्षित होकर श्रुतज्ञान की शिक्षा प्राप्त की।[8] इसी प्रकार आर्य सिंहगिरि ने बालक वज्र को आठ वर्ष की आयु में अपनी नेश्राय में लेकर विद्याध्ययन प्रारम्भ कराया जो एक दिन महान् वाग्मी और श्रुतधर बने।[9] इस प्रकार जैन आचार्यों के अनुसार शिक्षा प्रारम्भ का सबसे अच्छा और अनुकूल समय आठवां वर्ष माना गया है। आठ वर्ष का बालक शिक्षा योग्य बन जाता है। बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार बुद्ध को भी आठ वर्ष की उम्र में आचार्य विश्वामित्र के पास प्रारम्भिक शिक्षा के लिए भेजा गया था।[10]

शिक्षा की योग्यता

शिक्षा प्राप्त करने के लिए जब बालक गुरुकुलवास या गुरु के सान्निध्य में आता था तो सर्वप्रथम गुरु बालक की योग्यता तथा पात्रता की परीक्षा लेते थे। ज्ञान या शिक्षा एक अमृत के समान है, उसे धारण करने के लिए योग्य पात्र का होना बहुत ही आवश्यक है।

वैदिक एवं बौद्ध संस्कृति के अनुसार शिक्षा के लिए आया हुआ विद्यार्थी सदाचारी और प्रतिभाशाली होना चाहिए। दुष्ट स्वभाव का शिष्य कड़े जूते के समान होता है जो पहनने वाले का पैर काटता है दुष्ट शिष्य आचार्य से विद्या या ज्ञान ग्रहण करके उन्हीं की जड़ काटने लग जाता है।[११] अतः सर्वप्रथम शैक्ष-विद्यार्थी की योग्यता और पात्रता की परीक्षा करना आवश्यक है।

शिक्षा योग्य आय की परिपक्वता के बाद शैक्ष का भावात्मक विकास देखना जरूरी है। विनय, संयम, शांति और सरलता– ये चार गुण मुख्य रूप से देखे जाते हैं। स्थानांग सूत्र के अनुसार[१२]– १. विनीत, २. विकृति-अप्रतिबद्ध (जिह्वा-संयमी), ३. व्यवशमित प्राभृत (उपशान्त प्रकृति) और ४. अमायावी–(सरल हृदय)– चार प्रकार के व्यक्ति, शिक्षा एवं शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त करने के योग्य अधिकारी माने गये हैं। इसके विपरीत, अविनीत आदि को शिक्षा देने का निषेध है। दुष्ट प्रकृति, मूढ़मति, और कलह करने वाले व्यक्ति को शिक्षा देने का सर्वथा निषेध भी मिलता है।[१३] ऐसे व्यक्ति को ज्ञान देता हुआ गुरु स्वयं दुखी और संतप्त हो जाता है।

उत्तराध्ययन में बताया है–कृतज्ञ और मेधावी शिष्य को शिक्षा देते हुए आचार्य वैसे ही प्रसन्न होते हैं जैसे अच्छे घोड़े को हाँकता हुआ घुड़सवार, किन्तु अबोध और अविनीत शिष्य को शिक्षा देता हुआ गुरु वैसे ही खिन्न होता है, जैसे दुष्ट घोड़े को हाँकता हुआ उसका वाहक।[१४] विनीत शिष्य अपने शिक्षक, गुरु की कठोर शिक्षाएँ भी यह समझकर ग्रहण करता है कि ये मुझे अपना पुत्र व भाई समझकर कहते हैं, जबकि दुष्ट बुद्धि शिष्य मानता है गुरु तो मुझे अपना दास व सेवक मानते हैं। शिष्य की दृष्टि का यह अन्तर उसके मानसिक विकास व भावात्मक विकास को सूचित करते हैं।

उत्तराध्ययन में ही शिष्य या विद्यार्थी की पात्रता का विचार करते हुए बताया है–शैक्ष में कम से कम ये आठ गुण तो होने ही चाहिए–

१. हास्य न करना–गुरुजनों व सहपाठी विद्यार्थियों का उपहास न करना, व्यंग्य वचन न बोलना, मधुर व शिष्ट भाषा बोलना।

२. इन्द्रिय दमन करना–विकारशील या स्वेच्छाचारी व्यक्ति ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। अतः इन्द्रिय विजेता बनना चाहिए।

३. मर्म वचन न बोलना–मधुर व शिष्ट भाषा जहां गुरुजनों का मन जीत लेती है, वहीं कटु व मर्म वचन उनका हृदय दग्ध कर डालते हैं। इसलिए शिष्य व विद्यार्थी कभी अप्रिय व मर्म घातक वचन न बोले।

४. शीलवान–यह गुण व्यक्ति के चरित्र का निर्माण करता है और लोगों में उसकी विश्वसनीयता बढ़ाता है।

५. शील की दृढ़ता–शिथिलाचारी या खण्डिताचारी अथवा संकल्प के अस्थिर व्यक्ति पर कभी भी श्रुतदेवता (सरस्वती) प्रसन्न नहीं होते। अतः शैक्ष अपने चरित्र में दृढ़ निष्ठाशील रहे।

६. रस लोलुप न हो–भोजन में चटोरा भजन नहीं कर सकता। इसी प्रकार रस या स्वाद में आसक्त व्यक्ति शिक्षा प्राप्त नहीं कर सकता। शिक्षार्थी को अपनी सभी इन्द्रियों पर पूर्ण संयम रखना जरूरी है।

७. क्रोध नहीं करना–

८. सत्यभाषी होना–

ये आठ गुण, या योग्यता जिस व्यक्ति में होती हैं। वही जीवन में शिक्षा–ज्ञान प्राप्त कर सकता है, अपनी प्रतिभा का विकास कर सकता है।[१५]

इन्हीं गुणों का विकास व विस्तार करते हुए आचार्य जिनसेन[१६] ने विद्यार्थी की योग्यता की १५ कसोटियां बताई हैं–

१. जिज्ञासा वृत्ति
२. श्रद्धाशीलता
३. विनयशीलता
४. शुश्रूषा (सुनने की इच्छा व सेवा भावना)
५. श्रवण–पाठ श्रवण के प्रति सतर्कता
६. ग्रहण करने की क्षमता
७. धारण-स्मरण रखने की योग्यता
८. स्मृति
९. ऊह–तर्क शक्ति, प्रश्नोत्तर करने की योग्यता
१०. अपोह–स्वयं विचार करने की क्षमता
११. निर्णीति–स्वयं निर्णय लेने की क्षमता
१२. संयम
१३. प्रमाद का अभाव
१४. सहज प्रतिभा–क्षयोपशम शक्ति
१५. अध्यवसाय।

उक्त योग्यताओं के प्रसंग में कुछ अयोग्यताओं पर भी विचार किया गया है, जिनके कारण व्यक्ति शिक्षा से वंचित रह जाता है। अथवा ज्ञान प्राप्त करके भी उसका सदुपयोग नहीं कर सकता।

उत्तराध्ययन सूत्र के[१७] अनुसार शिक्षा प्राप्ति के लिए पाँच बाधक कारण ये हैं–

१. अहंकार, २. क्रोध, ३. प्रमाद (निद्रा, व्यसन आदि), ४. रोग, ५. आलस्य।

आचार्य जिनसेन ने[१८] इन्हें विस्तार देकर १४ कारण बताये हैं।

१. कठोर परिणामी
२. सार छोड़कर निस्सार ग्रहण करना
३. विषयी
४. हिंसक वृत्ति
५. शब्द ज्ञान व अर्थज्ञान की कमी
६. धूर्तता
७. कृतघ्नता
८. ग्रहण शक्ति का अभाव
९. दुर्गुण दृष्टि
१०. उद्दण्डता
११. प्रतिभा की कमी
१२. स्मरण शक्ति का अभाव
१३. धारणा शक्ति का अभाव
१४. हठग्राहिता।

ये सब अयोग्यता शिक्षार्थी में मानसिक कुण्ठा तथा उच्च चारित्रिक गुणों के अभाव की सूचक है। जब तक विद्यार्थी में चारित्रिक विकास और भावात्मक गुणों की वृद्धि नहीं होती वह ज्ञान या शिक्षा ग्रहण नहीं कर सकता। आचार्य भद्रबाहु ने आवश्यक निर्युक्ति में तथा विशेषावश्यक भाष्य में आचार्य जिन भद्रगणी ने अनेक प्रकार की उपमाएँ देकर शिक्षार्थी की अयोग्यता का रोचक वर्णन किया है।[१९] जैसे-

१. शैलघन-जिस प्रकार मूसलाधार मेघ वर्षने पर भी पत्थर (शैल) कभी आर्द्र या मृदु नहीं हो सकता। उसी प्रकार कुछ शिष्य ऐसे होते हैं जिन पर गुरुजनों की शिक्षा का कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

इसी प्रकार भग्नघट, चालनी के समान जो विद्यार्थी होते हैं, उन्हें गुरु ज्ञान या विद्या देते हैं, परन्तु उनके हृदय में वह टिक नहीं पाता। महिष-भैंसा जिस प्रकार जलाशय में घुसकर जल तो कम पीता है, परन्तु जल को गंदला बहुत करता है, उसी प्रकार कुछ विद्यार्थी, गुरुजनों से ज्ञान तो कम ले पाते हैं, परन्तु उन्हें उद्विग्न या खिन्न बहुत कर देते है। गुरु ज्ञान देते-देते परेशान हो जाते हैं। इसी प्रकार मेढा, तोता, मच्छर, बिल्ली आदि के समान जो शिष्य होते हैं वे गुरुजनों को क्षुब्ध व परेशान तो करते रहते हैं परन्तु ज्ञान प्राप्त करने में असफल रहते हैं। अगर ज्ञान की यत्‌किंचित प्राप्ति कर भी लेते हैं तो वह उनके लिए फलदायी नहीं, कष्टदायी ही सिद्ध होती है।

शिक्षा में विनय एवं अनुशासन

जैन शिक्षा पद्धति के विभिन्न अंगों व नियम-उपनियमों पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट होता है कि शिक्षा-प्राप्ति में विनय तथा अनुशासन का सर्वाधिक महत्त्व है। विनीत शिष्य ही गुरुजनों से शिक्षा प्राप्त कर सकता है और उसी की शिक्षा फलवती होती है। शिक्षा जीवन का संस्कार तभी बनती है, जब विद्यार्थी गुरु व विद्या के प्रति समर्पित होगा। भगवान महावीर की अन्तिम देशना का सार उत्तराध्ययन सूत्र में है। उत्तराध्ययन सूत्र का सार प्रथम विनय अध्ययन है। विनय अध्ययन में गुरु शिष्य के पारस्परिक सम्बन्ध शिक्षा ग्रहण की विधि, गुरु से प्रश्न करने की विधि, गुरुजनों के समीप बैठने की सभ्यता, बोलने की सभ्यता आदि विषयों पर बहुत ही विशद प्रकाश डाला गया है। वहाँ विनय को व्यापक अर्थ में लिया गया है।

कहा गया है-गुरुओं का आज्ञा पालन करना, गुरुजनों के समीप रहना, उनके मनोभावों क समझने की चतुरता, यह विनीत का लक्षण है।[२०]

विनय को धर्म का मूल माना है और उसका अन्तिम परम फल है-मोक्ष/निर्वाण।[२१] उत्तराध्ययन में शील, सदाचार और अनुशासन को भी विनय में सम्मिलित किया गया है। और कहा है-अणुसासिओ न कुप्पिज्जा खंतिं सेविज्ज पंडिए।[२२] गुरुजनों का अनुशासन होने पर उन पर कुपित नहीं होवे, किंतु विनीत शिष्य क्षमा और सहिष्णुता धारण करके उनसे ज्ञान प्राप्त करता रहे। इसी प्रसंग में गुरुजनों के समक्ष बोलने की सभ्यता पर विचार किया गया है।

नापुट्ठो वागरे किंचि पुट्ठो वा नालियंवए[२३]

गुरुजनों के बिना पूछे नहीं बोले, पूछने पर कभी असत्य नहीं बोले।

गुरु किसी से बात करते हुए हों तो उनके बीच में भी नहीं बोले।[२४]

गुरु विनय के चार लक्षण बताते हुए कहा है-

१. गुरुओं के आने पर खड़ा होना
२. हाथ जोड़ना
३. गुरुजनों को आसन देना
४. गुरुजनों की भक्ति तथा भावपूर्वक शुश्रूषा-सेवा करना

विनय के ये चार लक्षण हैं।[२५]

वास्तव में गुरुजनों की भक्ति और बहुमान तो विनय का एक प्रकार है, दूसरा प्रकार है शिक्षार्थी की चारित्रिक योग्यता और व्यक्तित्व की मधुरता। कहा गया है-गुरुजनों के समीप रहने वाला,

योग और उपधान (शास्त्र अध्ययन के साथ विशेष तपश्चरण) करने वाला, सबका प्रिय करने वाला और सबके साथ प्रिय मधुर बोलने वाला, शिक्षा एवं ज्ञान प्राप्त कर सकता है।[२६]

उत्तराध्ययन में ही कहा है–शिष्य गुरुओं, आचार्यों के समक्ष या अकेले में कभी उनके प्रतिकूल अथवा विरुद्ध न बोले, न ही उनकी भावना के विपरीत आचरण करें।[२७]

छान्दोग्य उपनिषद् का यह मन्तव्य भी इसी विचार को परिपुष्ट करता है–

यदा वै बली भवति, तदा उत्थाता भवति, उत्तिष्ठन् परिचरिता भवति, परिचरन् उपसत्ता भवति, उपसीदन् द्रष्टा भवति, श्रोता भवति, बोद्धा भवति, कर्ता भवति, विज्ञाता भवति।[२८]

जब शिष्य में आत्मबल जागृत होता है तो वह उठ खड़ा होता है। फिर वह अप्रमादी होकर गुरु की परिचर्या करता है। परिचर्या करता हुआ गुरु की सन्निधि में बैठता है। गुरु की शिक्षाएँ सुनता है। उन पर मनन करता है। उन्हें जानकर हृदयंगम कर लेता है उन पर अपनी जीवनचर्या ढालता है। और फलस्वरूप वह विज्ञाता विशिष्ट विद्वान-आत्मज्ञानी बन जाता है।

गुरुजनों के समक्ष बैठने उठने की सभ्यता और शिष्टता पर विचार करते हुए कहा गया है–शिष्य-आचार्यों के बराबर न बैठे, पीछे आगे न बैठे, पीछे से सटकर न बैठे, गुरु की जांघ से जांघ सटाकर न बैठे। गुरु बुलावे तो विस्तर या आसन पर बैठे-बैठे ही उनको उत्तर ने देवे। बल्कि उनका आमंत्रण सुनकर आसन से उठे, निकट आकर विनयपूर्वक निवेदन करे–[२९]

उठने बैठने की यह ऐसी सभ्यता है, जो गुरुजनों के लिए ही क्या, मनुष्य को सर्वत्र जीवन में उपयोगी होती है। इससे व्यक्ति की सुसंस्कृतता, उच्च सभ्यता झलकती है।

प्रश्न पूछने का तरीका

शिक्षा काल में शिष्य को शास्त्रीय ज्ञान के साथ-साथ व्यावहारिक ज्ञान, सभ्यता और शिष्टतापूर्ण आचरण भी आवश्यक है। इसलिए जैन शास्त्रों में "विनय" के रूप में विद्यार्थी के अनुशासन, रहन-सहन, वर्तन, बोलचाल आदि सभी विषयों पर बड़ी सूक्ष्मता से विचार किया गया है और उसके आवश्यक सिद्धान्त भी निश्चित किये गये हैं। गुरुओं से प्रश्न पूछने के तरीके पर विचार करते हुए बताया है–

आसणगओ न पुच्छेज्जा नेव सेज्जागओ कया,

गुरुजनों से कुछ पूछना हो तो अपने आसन पर बैठे-बैठे, या शय्या पर पड़े-पड़े ही न पूछे, किन्तु खड़ा होकर हाथ जोड़कर नम्र आसन से प्रश्न करे।[३०]

गौतम की प्रश्नोत्तर शैली

गुरु शिष्य के बीच प्रश्न-उत्तर की सुन्दर शैली पर गणधर गौतम का आदर्श हमारे सामने है। जब भी किसी विषय पर उनके मन में सन्देह या जिज्ञासा उत्पन्न होती है तो वे उठकर भगवान महावीर के पास आते हैं और विनय पूर्वक उनसे प्रश्न पूछते हैं। प्रश्न का समाधान पाकर व प्रसन्न होकर कृतज्ञता प्रदर्शित करते हुए कहते हैं–भन्ते! आपने जो कहा, वह सत्य है, मैं उस पर श्रद्धा करता हूँ।[३१]

उत्तर प्रदाता गुरु के प्रति शिष्य को इतना कृतज्ञ होना चाहिए कि वह उत्तर प्राप्त कर अपनी मनस्तुष्टि और प्रसन्नता व्यक्त करे। उनके उत्तर के प्रति अपनी श्रद्धा की अभिव्यक्ति करें।

एक बार गणधर इन्द्रभूति के पास भगवान पार्श्वनाथ परम्परा के श्रमण उदक पेढाल आये और अनेक प्रकार के प्रश्न पूछे। इन्द्रभूति ने सभी प्रश्नों का बड़ी स्पष्टता और सहजता से उत्तर दिया, किंतु गणधर इन्द्रभूति के उत्तर से उदक पेढाल क्रुद्ध हो गया, खिन्न भी हुआ और वह प्रश्नों का समाधान पाकर भी गौतम का अभिवादन किये बिना, धन्यवाद या कृतज्ञता के दो शब्द भी बोले बिना उठकर चलने लगा। स्पष्टवादी गौतम को उदक पेढाल का यह व्यवहार अनुचित लगा। तब गौतम ने उदक पेढाल को सम्बोधित करके कहा–भद्र! किसी श्रमण-निर्ग्रन्थ या गुरुजन से धर्म का एक भी पद, एक भी वचन सुना हो, अपनी जिज्ञासा का समाधान पाया हो, या योग-क्षेम का उत्तम मार्ग दर्शन मिला हो तो, क्या उनके प्रति कुछ भी सत्कार सम्मान व आभार प्रदर्शित किये बिना उठकर चले जाना उचित है?

उदक पेढाल ने सकुचाते हुए पूछा–आप ही कहिए, उनके प्रति मुझे कैसा व्यवहार करना चाहिए?

गणधर गौतम ने कहा–एगमपि आरियं सुवयणे सोच्चा ....
आढाई परिजाणेति वंदति नमंसति ...... ।[३२]

गुरुजनों से एक भी आर्य वचन सुनकर उनके प्रति आदर और कृतज्ञता का भाव व्यक्त करना चाहिए। यही आर्य धर्म है।

गौतम का यह उपदेश और स्वयं गौतम की जीवनचर्या से गुरु शिष्य के मधुर श्रद्धापूर्ण सम्बन्ध और प्रश्न उत्तर की शैली तथा उत्तर प्रदाता, ज्ञानदाता गुरु के प्रति कृतज्ञ भावना प्रकट करना एक आदर्श पद्धति पर प्रकाश पड़ता है। आज के संदर्भो में भी इस प्रश्नोत्तर पद्धति और कृतज्ञ भावना की नितांत उपादेयता है।

वास्तव में गुरुजनों की भक्ति और बहुमान तो विनय का एक आवश्यक अंग है। दूसरा अंग है–शिक्षार्थी की चारित्रिक योग्यता और व्यक्तित्व की मधुरता। कहा गया है–गुरुजनों के समीप रहने वाल, योग और उपधान (शास्त्र अध्ययन के साथ

विशेष तपश्चरण) करने वाला, सबका प्रिय करने वाला और सबके साथ प्रिय मधुर बोलने वाला, शिक्षा एवं ज्ञान प्राप्त कर सकता है।३३

इसी प्रसंग में शिक्षार्थी की १५ चारित्रिक विशेषताओं पर भी विचार किया गया है जिनके कारण वह सुविनीत कहा जाता है और गुरुजनों के समीप रहकर शिक्षा प्राप्त कर सकता है। संक्षेप में वे इस प्रकार हैं–३४

१. जो नम्र है।

२. अचपल है।

३. दंभी नहीं है।

४. अकुतूहली-तमाशबीन नहीं है।

५. किसी की निंदा नहीं करता है।

६. क्रोध आने पर उसे तत्काल भुला देता है, मन में क्रोध नहीं रखता, शीघ्र शान्त हो जाता है।

७. मित्रों के प्रति कृतज्ञ रहता है। मित्रता निबाहना जानता है।

८. ज्ञान प्राप्त करने पर अहंकार नहीं करता।

९. किसी की स्खलना या भूल होने पर उसका तिरस्कार एवं उपहास नहीं करता।

१०. मित्रों पर क्रोध नहीं करता, सहाध्यायियों से झगड़ता नहीं।

११. मित्र के साथ अनबन होने पर भी उसके लिए भलाई की बात करता है। एकान्त में भी उनकी निंदा नहीं करता।

१२. जो कलह या मारपीट नहीं करता।

१३. जो स्वभाव से कुलीन और उच्च है।

१५. बुरा कार्य करने में जिसे लज्जा अनुभव होती है।

१५. जो अपने आपको संयत और शान्त रख सकता है।

गुरुजनों के प्रति आदर व कृतज्ञता

जैन शिक्षा पद्धति पर शिक्षार्थी के मानसिक गुणों के विकास में सर्वाधिक महत्व की बात है, गुरुजनों के प्रति कृतज्ञता तथा आदर भावना। दशवैकालिक सूत्र मे बताया है–

जो सुकुमार राजकुमार उच्च कुलीन शिष्य गुरुजनों से लौकिक शिक्षा, शिल्प आदि सीखते हैं, गुरुजन उन्हें शिक्षाकाल में कठोर बंधन, ताडना, परिताप आदि देते हैं फिर भी शिष्य उनका सत्कार करते हैं, उन्हें नमस्कार करते हैं, तथा प्रसन्न करके उनके निर्देश के अनुसार वर्तन करते हैं।३५ इस पर टिप्पण करते हुए आचार्य जिनदास गणि चूर्णि में स्पष्टीकरण करते हैं कि गुरुजनों से शिल्प आदि सीखने पर, वस्त्र, भोजन, माला आदि से उनका सम्मान, सत्कार करना, उनके कथनानुसार वर्तन करना-शिष्य अपना कर्तव्य समझता है। तो जिन गुरुजनों से शिष्य जीवन-निर्माण और आत्म विकास की शिक्षा प्राप्त करता है, उनका सत्कार सम्मान करना विनय करना और उनका आदेश पालन करना तो परम सौभाग्य का कार्य मानकर गुरुजनों की आज्ञा सदा शिरोधार्य करना ही चाहिए।

दशवैकालिक की वृत्ति से यह स्पष्ट होता है कि विद्याध्ययन सम्पन्न होने पर छात्र के माता-पिता तथा छात्र गुरुजनों, आचार्यों को भोजन, वस्त्र, अर्थदान, प्रीतिदान आदि द्वारा सम्मानित करते थे। राजा द्वारा उनके जीवन भर की आजीविका का प्रबन्ध भी किया जाता था।

अन्तकृद्दशा सूत्र में अणीयस कुमार का विद्याध्ययन पूर्ण होने पर नाग गाथापति कलाचार्य का सम्मान करता है–

. . . . . . तं कलायरियं मधुरेहिं वयणेहिं विपुलेणं वत्थ-गंध मल्लालंकारेण सक्कारेति, सम्माणेति · विपुलं जीवियारिहं पीइदाणं दलयंति (३/१)

अणीयस कुमार के माता-पिता कलाचार्य का मधुर वचनों से सम्मान करते हैं, विपुल वस्त्र गंध माला अलंकार (आभूषण) प्रदान कर सत्कार और सम्मान करते हैं, तथा सम्मानपूर्ण जीविका योग्य विपुल प्रीतिदान देते हैं।

इस प्रकार देखा जाता है कि प्राचीन काल में विद्यादाता गुरुजनों का समाज में सर्वाधिक सम्मान और सत्कार किया जाता था और जीवन निर्वाह की कोई समस्या उन्हें चिन्तित नहीं करती थी।

विद्यार्थी जहाँ गुरुजनों के प्रति समर्पित होता था, वहाँ गुरुजन भी विद्यार्थी के प्रति पितृवत् वात्सल्य रखते थे। गुरु–शिष्य के सम्बन्ध पिता–पुत्र की भाँति मधुर और स्वार्थ रहित-आत्मीय होते थे। दशवैकालिक में बताया है–जो शिष्य गुरुजनों को विनय, भक्ति एवं समर्पण भाव से प्रसन्न करता है, गुरुजन भी उसे उसी प्रकार योग्य मार्ग में नियोजित करते हैं, जैसे पिता अपनी प्यारी पुत्री को योग्य कुल में स्थापित करता है।३६

इस सन्दर्भ में आचार्य विनोबा भावे का यह कथन भी बड़ा सटीक है–गुरु-शिष्य के बीच माता और पुत्र जैसा मधुर सम्बन्ध होना चाहिए। माता बालक को स्तनपान कराती है तो क्या वह अभिमान या एहसान अनुभव करती है कि मैं स्तनपान कराती हूँ। नहीं ? इसमें दोनों को ही आनन्द का अनुभव होता है, और दोनों के बीच मधुर वात्सल्य रस बहता है। अध्ययन-अध्यापन में गुरु-शिष्य की भी यही भूमिका होनी चाहिए।

इसी सिलसिले में कैनेथ वाउल्डींग का एक बहुत सुन्दर वाक्य है–

When we love, we increase love with others and in ourselves as teacher increases knowledge within his student and himself by the simple act of the teach us.

जब हम प्रेम करते हैं, तब प्रेम को बढ़ाते हैं, औरों में और अपने में, जैसे कि एक शिक्षक ज्ञान को बढ़ाता है, विद्यार्थियों में और अपने में–सिखाने की एक सादी सी क्रिया के द्वारा।

गुरु शिष्य का यह भाव ही जैन सूत्र दशवैकालिक के ९वें अध्ययन में विभिन्न सुन्दर उपमाओं द्वारा अभिव्यक्त हुआ है। उपनिषद में एक वाक्य आता है–तेजस्विनावधीतमस्तु–हमारा अध्ययन तेजस्वी हो। हमारा ज्ञान जीवन में प्रकाश और तेज पैदा करे। दशवैकालिक में भी कहा है–गुरुजनों का आशीर्वाद प्राप्त करने वाले शिष्य का ज्ञान, यश और तेज "शीतल जल से सींचे हुए पादप की भाँति बढ़ते हैं। जल सित्ता इव पायवा। तथा जैसे घृत सिंचित अग्नि का तेज बढ़ता है, वैसे ही विनय से प्राप्त विद्या तेजस्वी होती है।

इसी अध्ययन में विनय और अविनय का फल बताते हुए आचार्य ने बहुत ही स्पष्ट बात कही है–

विपत्ति अविणीयस्स संपत्ति विणियस्स य।

अविनीत को सदा विपत्ति और विनीत को संपत्ति प्राप्त होती है, जिसने यह जान लिया है, वही शिष्य गुरुजनों से शिक्षा और ज्ञान प्राप्त कर सकता है।[३७]

शिक्षा का उद्देश्य

जैन आगमों व अन्य व्याख्या ग्रंथों के परिशीलन से इस बात का भी पता चलता है कि विद्यार्थियों को सिर्फ अध्यात्म ज्ञान ही नहीं, किन्तु सभी प्रकार का ज्ञान दिया जाता था। भगवान ऋषभदेव ने आत्मज्ञान से पूर्व अपने पुत्र-पुत्रियों को ७२ एवं ६४ प्रकार की कलाएँ तथा विविध विद्या, शिल्प आदि का प्रशिक्षण दिया था। इन कलाओं की सूची से स्पष्ट होता है कि इनमें वस्त्र निर्माण, वास्तु कला, कृषिकला, गायन कला, शासन कला (राजनीति) काव्यकला, नृत्यकला, युद्धकला, मल्लविद्या, यहाँ तक कि कामकला का भी समावेश था।[३८]

शारीरिक, मानसिक, विकास के समग्र साधन काम में लिये जाते थे और शिक्षार्थी को समाज में सम्मानपूर्वक आजीविका तथा उच्चजीवन स्तर यापन के योग्य बनाया जाता था।[३९]

आज विद्यार्थी के सामने शिक्षा प्राप्त करने का सबसे पहला उद्देश्य है–डिग्री (उपाधि) प्राप्त करना तथा उसके पश्चात् कोई रोजगार प्रधान शिक्षण लेना। इन सबके पीछे, आजीविका प्राप्त करने का ही मुख्य उद्देश्य रह गया है। आज की शिक्षा वास्तव में एकांगी है। विद्यार्थी के सामने भी बहुत सीमित–छोटा सा लक्ष्य रहता है, और गुरु के सामने केवल अपनी आजीविका (नौकरी) का ही ध्येय रहता है, इसलिए शिक्षा फलदायिनी नहीं होती और न ही जीवन का विकास कर पाती है। किन्तु प्राचीनकाल के संदर्भों से यह पता चलता है कि कला शिक्षण का उद्देश्य आजीविकोपार्जन करना मात्र नहीं था, किन्तु छात्र के व्यक्तित्व का संतुलित सम्रग्र विकास करना उद्देश्य था। शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् व्यक्ति समाज में सम्मानपूर्ण जीवन जी सके और साथ ही समाज के बहुमुखी विकास में योगदान कर सके–शिक्षा का यह प्रथम उद्देश्य था।

इसके साथ ही शिक्षा प्राप्त करने का एक महान उद्देश्य भी है–और वह है आत्मज्ञान प्राप्त करना। जीवन में अर्थ प्रथम आवश्यकता है, परन्तु सर्वोपरि आवश्यकता नहीं। मनुष्य के मन में भूख असीम है, अनन्त है, इसे धन, यश, सत्ता आदि की खुराक शान्त नहीं कर सकती। मन की शान्ति के लिए केवल एक ही उपाय है, और वह है–आत्मज्ञान! आत्मविद्या! विद्यार्थी के सामने ज्ञान प्राप्ति का विशिष्ट और महान उद्देश्य यही है।

दशवैकालिक सूत्र में श्रुत समाधि[४०] का वर्णन है। जिसका अर्थ है ज्ञान प्राप्ति से चित्त की समाधि और शांति की खोज करना। उसके लिए शिक्षार्थी अपने मन में एक पवित्र और महान लक्ष्य निश्चित करता है।

१. अध्ययन करने से मुझे आत्म-ज्ञान की प्राप्ति होगी।

२. ज्ञान प्राप्ति से मेरे चित्त की चंचलता दूर होगी, एकाग्र चित्त बन सकेगा।

३. मैं स्वयं को धर्म में, सदाचार में स्थिर रख सकूँगा।

४. मैं स्वयं धर्म में स्थिर रहकर दूसरों को भी धर्म में स्थापित कर पाऊँगा।

इन चार उद्देश्यों पर चिन्तन कर शिक्षार्थी ज्ञानाराधना में प्रवृत्त होता है।

स्थानांग सूत्र में[४१] कुछ भिन्न प्रकार से शिक्षा प्राप्ति के पाँच विशिष्ट उद्देश्य बताये गये हैं–

१. शिक्षा प्राप्त करने से ज्ञान की प्राप्ति होगी।

२. दर्शन (सम्यग् बोध) की प्राप्ति होगी।

३. चारित्र (सदाचार) की प्राप्ति होगी।

४. दूसरों के कलह, अशान्ति, द्वेष आदि का शमन कर सकूँगा। ज्ञानी बनकर समाज में शान्ति स्थापित कर सकूँगा।

५. वस्तु पदार्थ का यथार्थ स्वरूप जान सकूँगा।

उपसंहार–इस प्रकार भारतीय संस्कृति के प्राचीन ग्रन्थों तथा मुख्यतः जैन ग्रन्थों के अनुशीलन से प्राचीन शिक्षा प्रणाली का जो स्वरूप उपलब्ध होता है, उससे यह पता चलता है कि प्राचीन काल में शिक्षा या ज्ञान-प्राप्ति का उद्‌देश्य व्यक्तित्व का बहुमुखी विकास करना था। शरीर एवं इन्द्रियों का विकास करना मात्र शिक्षा का उद्देश्य नहीं है, यह तो पशुओं में भी होता है, पक्षियों और कीट-पतंगों में भी होता है। मनुष्य के भीतर तो असीम शक्तियों के विकास की संभावना छिपी है, शिक्षा के द्वारा उन शक्तियों को जागृत एवं प्रकट किया जाता है।

पत्थर या मिट्टी में मूर्ति बनने की योग्यता तो है ही, कुशल शिल्पकार उसे सुन्दर आकृति देकर उस क्षमता को प्रकट कर देता है। गुरु को इसी लिए कुम्भकार शिल्पकार बताया है जो विद्यार्थी की सुप्त/निद्रित आत्मा को जागृत कर तेजस्वी और शक्ति सम्पन्न बना देता है। व्यक्ति समाज का एक अभिन्न घटक है। निश्चित ही अगर उसके व्यक्तित्व का, शारीरिक, मानसिक, नैतिक और आध्यात्मिक विकास होगा, उसमें तेजस्विता आयेगी। तो समाज स्वयं ही प्रगति और उन्नति के पथ पर अग्रसर होगा। अतः व्यक्तित्व के समग्र विकास हेतु जो मानदंड, नियम, योग्यता, पात्रता तथा पद्धतियाँ प्राचीन समय में स्वीकृत या प्रचलित थीं, उनके अध्ययन/अनुशीलन के आधार पर आज की शिक्षा प्रणाली पर व्यापक चिन्तन/मनन अपेक्षित है, परिवर्तन और परिष्कार भी वांछनीय है। प्राचीन भारतीय जैन शिक्षा प्रणाली भारत की जलवायु तथा मानसिकता के अनुकूल थी, अतः उन सन्दर्भों के साथ आज की शिक्षा प्रणाली पर आवश्यक चिन्तन होना अपेक्षित है।

पता : दिवाकर प्रकाशन
ए-७, अवागढ हाउस एम. जी. रोड,
आगरा-२८२ ००२

● ●

सन्दर्भ स्थल

१. विस्तार के लिए देखें–१. प्रवचनसारोद्धार द्वार–२३८, गाथा–१३५६-५८
   २. धर्मसंग्रह अधिकार–१, गाथा–२०
२. रघुवंश–३/२८/२९ (कालिदास ग्रंथावली)
३. कौटिलीय अर्थशास्त्र-प्रकरण २१-अ–४.
४. आदिपुराण (महापुराण)–१६/१०४ तथा त्रिषष्टि. १/२ एवं आवश्यकचूर्णि
५. कुमारं सातिरेग अट्ठवास सयं जायं अम्मापियरो कलायरियस्स उवणेंति ....भगवती सूत्र ११/११, ज्ञातासूत्र १/१, अन्तकृद्दशासूत्र–३/१
६. गुणचन्द्र का महावीर चरित्र तथा त्रिषष्टि शलाका पुरुषचरितं देखें।
७. पढम दसाड्ड-अट्ठवरिसोवरि, नवम-दसमेसु दीक्खा–निशीथचूर्णि उद्देशक-११
८. परिशिष्ट पर्व-सर्ग-५
९. परिशिष्ट पर्व-सर्ग-१२
१०. ललित विस्तर, पृष्ठ-१४३
११. चुल्लवग्ग–१-७-२, डा. हरीन्द्रभूषण जैन–प्राचीन भारत में शिक्षा पद्धति
१२. चत्तारि वायणिज्जा–विणीते, अविगतिपडिबद्धे, विओसितपाहुडे अमाई–स्थानांग–४/सूत्र ४५३
१३. तओ अवायणिज्जा-दुट्ठे, मूढे, वुग्गहिए–स्थानांग-३
१४. उत्तराध्ययन–१/३७–३९
१५. (१) अह अट्ठहिं ठाणेहिं सिक्खासीले त्ति वुच्चई।
    अहस्सिरे सया दन्ते न य मम्ममुदाहरे॥
    (२) नासीले न विसीले न सिया अइलोलुए।
    अकोहणे सच्चरए सिक्खासीले त्ति वुच्चई॥ –उत्तराध्ययन–११/४-५
१६. आदि पुराण (भाग–१) १४०–१४८ तथा आदि पुराण (खण्ड–३) ३८/१०९–१११८
१७. उत्तराध्ययन–११/३
१८. आदि पुराण-भाग–१
१९. सेलघण–कुडग–चालणि परिपूणग हंस-महिस-मेसेय-मरुग-जलुग-विराली।
२०. आणा णिद्देस करे, गरूणमुववाय कारए।
    इंगियागार संपन्ने से विणीए त्ति वुच्चइ॥ –उत्तरा. १/२
२१. एवं धम्मस्स विणओ मूलं परमो से मोक्खो–दशवै. ९/२/२
२२. उत्तरा. १/९
२३. उत्तरा. १॥१४
२४. भासमाणस्स वा वियागरेमाणस्स वा नो अंतरा भासं भासिज्जा।
    –आचारांग–२/३/३
२५. अब्भुट्ठाणं अंजलिकरणं तहेवासणदायणं, गुरुभक्ति भावसुस्सूसा-विणओ एस वियाहिओ –उत्त. ३०/३२
२६. वसे गुरुकुले निच्चं जोगवं उवहाणवं,
    पियं करे पियं वाई से सिक्खं लद्धूमरिहइ– उत्त.–११/१४
२७. उत्तरा.–१/१७
२८. छांदोग्य उपनिषद् ७/८/१
२९. उत्तरा.–१/२२-२३
३०. उत्तराध्ययन–२२-२३
३१. देखिए भगवती सूत्र के प्रसंग
३२. सूत्रकृतांग–२/७/३७
३३. उत्तराध्ययन–११/१४
३४. उत्तरा.–११/१०-१४
३५. दशवै. ९/२/१४-१५,जिनदास चूर्णि पू. ३१४, दसवेआलियं, पृ. ४३९
३६. दशवैकालिक–९/३/१३
३७. दशवै. १/२/३१ जिनदासचूर्णि पू. ३४१, दसवैआलियं-पृ. ४३९
३८. देखें–त्रिषष्टिशलाका–१/२, आवश्यकचूर्णि तथा महापुराण पर्व-१६
३९. इसी के साथ-भगवती ३१, ज्ञातासूत्र–१/२, अन्तकृद्दशा सूत्र–३/१ आदि में कला शिक्षण का विस्तृत उल्लेख मिलता है।
४०. दशवैकालिक-९/४
४१. स्थानांग सूत्र-५/३